Live हिन्दुस्तान .com

Date: 16-06-16

जहाज की जासूसी

अंतरराष्ट्रीय टकराव का अगला केंद्र दक्षिण चीन सागर हो सकता है। इन दिनों भारत, जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका का एक संयुक्त नौसैनिक अभ्यास जापान के पास पश्चिमी प्रशांत सागर में किया जा रहा है, जिसमें अमेरिकी विमानवाहक जहाज जॉन सी स्टेनिस भाग ले रहा है। जॉन सी स्टेनिस के कमांडर का कहना है कि एक चीनी जासूसी जहाज ने उनका पीछा किया। उनके मुताबिक, चीनी जहाज दक्षिण चीन सागर से उनके पीछे आया और आठ-दस मील की दूरी पर बना रहा। चीन का कहना है कि वह अपने कानूनी अधिकार और नौवहन की स्वतंत्रता के तहत काम कर रहा है। दक्षिण चीन सागर एक तरफ से चीन और बाकी तरफ से वियतनाम, ताइवान, फिलीपींस, इंडोनेशिया, जापान वगैरह देशों से घिरा हुआ है। यह अपेक्षाकृत छोटा समुद्र पश्चिमी प्रशांत सागर की ओर खुलता है और यह चीन के लिए पश्चिमी प्रशांत की ओर जाने का रास्ता है। चीन दक्षिणी प्रशांत सागर को अपना प्रभाव क्षेत्र मानता है और इलाके के सारे देशों से समुद्री अधिकार क्षेत्र को लेकर उसका झगड़ा है।

झगडे की वजह सामरिक और व्यापारिक वर्चस्व के अलावा यह भी है कि इस क्षेत्र में तेल के भारी भंडार होने की संभावना है। चीन इस क्षेत्र में सबसे ताकतवर देश है, इसलिए बाकी देश उसकी महत्वाकांक्षा से डरे हुए हैं। इन देशों का कहना है कि इस क्षेत्र में और इसमें मौजूद तमाम द्वीपों पर चीन अपना हक जता रहा है और कुछ कृत्रिम द्वीप भी बना रहा है, जो अंतरराष्ट्रीय संधियों और कानूनों का उल्लंघन है। चीन का कहना है कि वह अपने अधिकारों की रक्षा कर रहा है। चीन की महत्वाकांक्षा को नियंत्रित करने के लिए तमाम आसियान देश साझा रणनीति बनाने की कोशिश कर रहे है। इसी बीच चीन और आसियान देशों के विदेश मंत्रियों की एक बैठक भी हुई, जिसमें दक्षिण चीन सागर को लेकर विचार-विमर्श किया गया। सम्मेलन के बाद एक साझा बयान जारी किया गया, जिसमें चीन का नाम लिए बगैर इस क्षेत्र में अपनी ताकत दिखाने की उसकी प्रवृत्ति की आलोचना की गई थी, लेकिन कुछ ही देर बाद यह बयान वापस ले लिया गया और कहा

गया कि सभी विदेश मंत्री अपना-अपना बयान जारी करेंगे। जापान और चीन के बीच भी समुद्री सीमा को लेकर विवाद है।

पूर्वी चीन सागर में जापान के पास कई छोटे-छोटे द्वीप हैं, जिन्हें जापान चीन के खिलाफ अपनी रक्षा पंक्ति की तरह इस्तेमाल करता है और उन पर उसने रडार व अन्य यंत्र लगा रखे हैं। चीन इन द्वीपों पर भी अपना दावा जताता है। उसका मुकाबला करने के लिए इस क्षेत्र के तमाम लोकतांत्रिक देश मिलकर जो कोशिश कर रहे हैं, उसमें भारत भी उनके साथ है। चीन का विवाद वियतनाम के साथ भी है और भारत जहां दक्षिण चीन सागर में तेल की खोज के लिए वियतनाम की मदद कर रहा है, वहीं उससे ब्रह्मोस मिसाइल बेचने का एक समझौता भी किया है। इसी रणनीति का हिस्सा अमेरिका, भारत और जापान का संयुक्त नौसैनिक अभ्यास है।

जापान का कहना है कि चीनी जासूसी जहाज उसकी समुद्री सीमा में प्रवेश कर गया था। हो सकता है कि चीन का इरादा जासूसी करने से ज्यादा अपनी नाराजगी जताने का हो, लेकिन एक-दूसरे की समुद्री सीमा में घुस आने की शिकायतें इस क्षेत्र के तमाम देशों और चीन के बीच लगातार चलती रहती हैं। देखना यह है कि ये विवाद कहां तक जाएंगे, क्योंकि चीन की आक्रामकता बढ़ रही है। इस क्षेत्र का सामरिक और आर्थिक महत्व बढ़ने ही वाला है। निकट भविष्य में भले ही कोई युद्ध न हो, लेकिन ज्यादा टकराव की खबरें सुनने को मिलेंगी।

Date: 16-06-16

जेनेटिक इंजीनियरिंग से जुड़े हैं नैतिक सवाल

नब्बे के दशक में एक विज्ञान कथा फिल्म आई थीगट्टका। इस कहानी में जो बच्चे जेनेटिक इंजीनियरिंग से पैदा होते हैं, वे बडे होकर प्रोफेशनल काम करने लगते हैं और बाकी बड़े होकर मजदूर भर रह जाते हैं। जेनेटिक इंजीनियरिंग के खतरों की ऐसी कल्पनाएं कोई नई नहीं हैं। आल्डस हक्सले की ब्रेव न्यू वर्ल्ड के जमाने से ही ये चल रही हैं। लेकिन ऐसा कुछ भी होता नहीं दिख रहा। जितना हम मानव जीनोम के बारे में जानते जा रहे हैं, उतनी ही सुपर ह्यूमन पैदा करने की संभावनाएं कम होती दिख रही हैं। अभी हम उन्हीं जेनेटिक खामियों को समझने के आस-पास सक्रिय हैं, जिनकी वजह से कई बीमारियां होती हैं। लेकिन एक बड़ा बदलाव अब सामने आता दिख रहा है।

पिछले हफ्ते अमेरिका की नेशनल एकेडमी ऑफ साइंस ने एक नई तकनीक का ब्योरा दिया है, जिसका नाम है 'जीन ड्राइव'। फिलहाल इस तकनीक के जरिये मच्छरों की एक नई पीढ़ी तैयार की जा रही है, जिनसे पैदा होने वाली सभी मच्छर बांझ होंगी। यानी इस तरीके से इस धरती से सभी मच्छरों का खात्मा किया जा सकेगा। इसी तकनीक का इस्तेमाल करके खर-पतवारों से मुक्ति पाकर कृषि उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। जाहिर है, यह तकनीक हमारे पूरे पर्यावरण को इस तरह बदल सकती है कि फिर वापसी शायद संभव न हो। और ठीक यहीं पर नैतिकता का सवाल खड़ा हो जाता है।

हम ठीक तरह से नहीं जानते हैं कि मच्छरों की संपूर्ण प्रजाति का पूरी तरह सफाया करने का नतीजा क्या हो सकता है। संभव है कि हम कुछ ऐसे जीवों का भोजन ही पूरी तरह छीन लें, जो मच्छरों के भक्षण पर जिंदा हैं, या इसकी वजह से कई तरह के पौधों का परागण ही रुक जाए। ऐसे ही, हम मानव जीनोम में बदलाव के नतीजे भी ठीक तरह से नहीं जानते। कहीं हम ऐसा समाज तो नहीं बना लेंगे, जहां जेनेटिक बदलाव वाले लोगों व प्राकृतिक ढंग से पैदा लोगों के बीच एक वर्गभेद बन जाए? कहीं ऐसा समाज न बन जाए, जो खामियों वाले बच्चों और लोगों के प्रति ज्यादा असहिष्णु हो।

इस बीच मानव जीनोम तैयार करने की लागत भी घटती जा रही है। इसी के साथ डिजाइनर बच्चे तैयार करने की संभावना भी बढ़ती जा रही है। स्टेनफोर्ड यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर हेनरी ग्रीले ने अपनी नई किताब द एंड ऑफ सेक्स में कहा है कि 20 से 40 साल बाद पैदा होने वाले ज्यादातर बच्चे परखनली शिशु होंगे। साथ ही यह भी सुनिश्चित किया जाएगा कि वे अपने अभिभावकों से ज्यादा स्वस्थ हों। इसलिए इस समय जो तकनीक विकसित हो रही हैं, उनका नियमन सख्त करने की जरूरत है। ऐसी तकनीक के बारे में फैसले इतने अहम हैं कि उन्हें सिर्फ वैज्ञानिकों के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता। इसका असर व्यापक होगा, इसलिए समाज की चिंताओं को शामिल करना जरूरी है। इस तकनीक पर सार्वजनिक बहस का समय आ गया है।

साभार- द गार्जियन
(ये लेखिका के अपने विचार हैं)
लिंडा गैडेस, ब्रिटिश विज्ञान लेखिका

Date: 16-06-16

समस्या ड्रग्स नहीं, बेरोजगारी है

पंजाब इन दिनों गलत वजहों से सुर्खियों में है। कभी हरित क्रांति का अगुवा रहा यह सूबा आज ड्रग्स की समस्या के कारण चर्चा में है। संभव है कि ड्रग्स की लत के शिकार नौजवानों की संख्या को लेकर अलग-अलग राय हो, मगर इस बात से सभी राजी होंगे कि यह तादाद बहुत बड़ी है और हालात अब संकट के बिंदु तक पहुंच गए हैं। इसीलिए मसला ड्रग्स की लत का दायरा नहीं, बल्कि यह है कि आखिर क्यों पंजाब में नौजवान इसकी तरफ आकर्षित हो रहे हैं? इस झुकाव को लेकर कई तरह की सांस्कृतिक व सामाजिक दलीलें दी जाती रही हैं, मगर हकीकत यह है कि वहां की एक के बाद दूसरी सरकार ने इस समस्या को नजरअंदाज किया, बल्कि बहुत मुमकिन है कि सीधे या प्रकारांतर से इसको बढ़ाया ही। फिर भी, यह सिर्फ शासन की विफलता का मसला नहीं है, बल्कि यह ग्रामीण इलाकों की एक बड़ी समस्या का लक्षण भी है। और वह असली समस्या है बेरोजगारी, पंजाब के नौजवानों के लिए आजीविका के विकल्पों का अभाव।

यह वही पंजाब है, जो कभी अपने उद्यमी किसानों के लिए सराहा जाता था, जिसने 1960 और 70 के दशक के आरंभिक वर्षों में हरित क्रांति की कामयाबी की शुरुआती कहानियां रचीं। 1980 के दशक के बाद पंजाब देश के सबसे अधिक प्रति-व्यक्ति आय वाले सूबों में शामिल रहा। लेकिन पिछले दो दशकों में यह कृषि विकास दर के मामले में ज्यादातर राज्यों से पिछड़ता गया है। न सिर्फ तमाम मुख्य फसलों की पैदावार और उत्पादन थम-सा गया है, बल्कि जोत का रकबा कम होने से मुनाफा भी घटता चला गया है। फिर प्राकृतिक संसाधनों की बिगड़ती स्थिति ने भी नौजवानों को किसानी के काम से विमुख किया है। मिट्टी की खराब होती गुणवत्ता और गिरते भूजल-स्तर के कारण खेती करना अब काफी महंगा कार्य हो गया है, और इसके मशीनीकरण के साथ हालात चरम पर पहुंच गए हैं। यंत्रों के कारण मजदूरों का इस्तेमाल काफी कम हो गया है, ऐसे में अब तक कृषि कार्य से रोजगार पा रहे कामगार बेकार हो रहे हैं। पंजाब में कृषि क्षेत्र की बदतर हालत किसानों की खुदकुशी से भी जाहिर होती है।

हालांकि अभी उनकी संख्या कम है, मगर यह एक ऐसा तथ्य है, जिसके बारे में 1990 के दशक के पहले कोई सोच भी नहीं सकता था। पंजाब एक ऐसे राज्य की विफलता का सबसे बड़ा उदाहरण है, जो शानदार कृषि विकास और उत्पादकता के बावजूद गैर-कृषि क्षेत्र में अपनी तरक्की के नए रास्ते

न तलाश सका। इसकी एक वजह यह भी रही कि लुधियाना और दूसरे शहरों के स्थानीय उद्योग खुली व उदार भारतीय अर्थव्यवस्था के साथ सामंजस्य बिठाने में नाकाम रहे, बल्कि राज्य की सरकारों ने भी गैर-कृषि उद्योगों की स्थापना को प्रोत्साहित करने में उदासीनता बरती। कृषि क्षेत्र पर हद से ज्यादा ध्यान देने की वजह से ही राज्य सरकार ने दूसरे क्षेत्रों में रोजगार की संभावनाओं को नजरअंदाज किया। वह किसानों को मुफ्त बिजली देने और अन्य प्रोत्साहनों में सब्सिडी देने पर धन खर्च करती रही।

हाल के वर्षों में विदेश जाने की रफ्तार भी धीमी पड़ी है और राज्य में रोजगार के वैकल्पिक अवसरों के अभाव में बेरोजगारी की समस्या बद से बदतर होती गई है। आज ऐसे किस्सों व अध्ययनों की भरमार है, जो पंजाब में कृषि क्षेत्र के संकट और नौजवानों में उससे जुड़े रोजगार की समस्या की बात करते हैं। किसानी से पलायन की प्रक्रिया ने एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी है, जिसमें कृषक समुदाय लगातार खेती का काम छोड़ता जा रहा है, और अब तक ऐसे बहुत थोड़े से कृषक मजदूर अपने लिए दिहाड़ी का काम जुटा पाए हैं। ज्यादातर कृषक जातियां व समूह अब भी दैनिक मजदूरी के अनिच्छुक हैं, और गैर-कृषि क्षेत्र में उन्हें कोई काम मिल नहीं पा रहा है। लेकिन यह अकेले पंजाब की समस्या नहीं है।

पंजाब में भले ही इसका एक विकृत नतीजा देखने को मिल रहा है, लेकिन हकीकत यह है कि पूरे देश के कृषक जाति-वर्ग के लिए अपने नौजवानों को कृषि-कर्म से जोड़े रखना मुश्किल हो रहा है। बदल रही आर्थिक स्थिति और रोजगार के अवसरों की कमी अराजकता के हालात की ओर बढ़ रही है। सरकारी नौकरियों में आरक्षण के अभियान इसी के उदाहरण हैं। हरियाणा में जाटों, गुजरात में पटेलों और महाराष्ट्र में मराठों की सरकारी नौकरियों में कोटा की मांग दरअसल कृषि क्षेत्र में घटते मुनाफे और रोजगार के सिमटते अवसरों को ही प्रतिबिंबित करती हैं। इनमें से ज्यादातर राज्य गैर-कृषि क्षेत्र में रोजगार के मौके पैदा करने में नाकाम हैं, बावजूद इसके कि इनकी आर्थिक विकास दर में बढ़ोतरी जारी है।

यह एक बहुत बड़ी समस्या है, और अर्थव्यवस्था पिछले दो दशकों से इसका सामना कर रही है। सच्चाई यह है कि हमारी अर्थव्यवस्था साल 2004-05 से 2011-12 के बीच हर वर्ष सिर्फ 20 लाख नौकरियां पैदा कर सकी, जबकि यह अवधि उच्च विकास दर वाली रही है। जाहिर है, श्रम बल में शामिल हो रही आबादी के आगे यह संख्या काफी कम है। तब तो और, जब इसी अवधि में साढ़े तीन करोड़ की श्रम शक्ति खेती-किसानी छोड़कर श्रम बाजार में दाखिल हुई हो। रोजगार के अवसरों का सृजन भविष्य में भी अर्थव्यवस्था के आगे एक बड़ी चुनौती बना रहेगा। नेशनल स्किल

डेवलपमेंट कॉरपोरेशन के एक आकलन के मुताबिक, अगले सात साल में लगभग ढाई करोड़ लोग खेती छोड़कर नए रोजगार की होड़ में शामिल होंगे। सरकार को इस चुनौती का मुकाबला करने के लिए हर वर्ष कम से कम 20 लाख नौकरियां पैदा करनी होंगी। लेकिन इसके उलट स्थिति यह है कि पिछले दो साल में हमारी अर्थव्यवस्था महज सात लाख अवसर ही पैदा कर सकी है, और उनमें से भी आधे मौके अकेले वस्त्र उद्योग के क्षेत्र के हैं।

पंजाब में ड्रग्स की समस्या कानून-व्यवस्था का मसला नहीं है। मौजूदा सरकार की नाकामी ने यकीनन इस समस्या को और गंभीर बनाया है, पर यह मसला आर्थिक है। यह मुद्दा एक ऐसी रणनीति पर गंभीर बहस की जरूरत बता रहा है, जो न सिर्फ खेती छोड़ने वाले नौजवानों को लाभकारी रोजगार मुहैया कराने में समर्थ हो, बल्कि श्रम-बल का हिस्सा बनने वाले नए युवा-युवतियों की अपेक्षाओं को भी पूरा करती हो।

ड्रग्स की लत का खतरा तो हमारी आर्थिक नीति के गंभीर रोग का लक्षण मात्र है, जो रोजगार के पर्याप्त अवसर पैदा करने में नाकाम रही है। पंजाब जैसी बेचैनी दूसरे सूबों में भी दिखने लगी है और यही वक्त है कि केंद्र सरकार बेरोजगारी की समस्या से निपटने को लेकर एक ठोस रणनीति बनाए। लेकिन अफसोस, समस्या के हल की बात तो दूर, इसकी गंभीरता ही नहीं समझी जा रही है।

(ये लेखक के अपने विचार हैं)

हिमांशु, एसोशिएट प्रोफेसर, जेएनयू

THE ECONOMIC TIMES

Date: 17-06-16

Civil aviation policy: Time to work on revamping and modernising DGCA

The new national civil aviation policy has benefited from responses to the consultative paper released by the ministry last year. Most questionable, contentious proposals have been suitably revised

or even abandoned. So, while the policy objective remains to speedily shore up passenger traffic and boost regional connectivity, the fare by fiat of Rs 2,500 per passenger over 500-600 km (equivalent to about one-hour flight) would now only be indicative and indexed to inflation.

But a price cap is a bad idea and creating a fund by taxing passengers on other routes to disburse among short-haul operators only serves to build up some patronage capacity with the ministry, not to create an efficient market for civil aviation. The 5/20 rule, which mandated that domestic carriers wait five years and have a minimum fleet size of 20 to fly overseas, goes away. However, the ministry has done well to insist that a minimum of 20 aircraft has to be deployed on domestic routes.

What the policy means by stipulating that the higher of 20 aircraft or 20% of total capacity has to be deployed on domestic routes is a little foggy, however. The move to auction bilateral traffic rights has rightly been dropped. The way ahead is to have in place a transparent system of negotiated increase in bilateral traffic rights with other countries.

In tandem, there is huge potential to develop Delhi and Mumbai as global air hubs. To improve regional connectivity, the policy calls for new no-frills airports so as to keep cost and overheads low, which is unexceptionable. Now that regional operators can have code-share with other carriers, this makes it easier for airlines to meet their obligation to fly Category-II routes more efficiently.

This is a good example of the market-friendly measures policy can take to boost regional connectivity. We need more thought on these lines, instead of levying a tax on passenger fares or asking states to forgo tax on aviation turbine fuel while depriving the railways of a profitable and efficient chunk of passenger business. The next step is to modernise the directorate general of civil aviation.

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date: 16-06-16

States of politics

How regional parties shape national polity will depend on their historical trajectories, specific contexts.

As Ajit Jogi forms a new party, the focus would once again turn to state-level parties. Already, the latest round of assembly elections has underscored the clout of state parties. These developments, along with the inability of the Congress to resurrect itself from the debris of the 2014 defeat, beg the all-too-familiar question again: What role are state parties likely to play in shaping national politics?

Already, the BJP is in partnership with at least four major state parties — PDP, Akali Dal, AGP and Shiv Sena — besides having the support of the TDP. In the run-up to the next parliamentary election, it could further intensify its bid to ally with more state parties. On the other hand, anti-BJP forces would draw succour from the fact that Mamata Banerjee's Trinamool Congress, like Nitish Kumar's JD(U), could become the centre of the new anti-BJP ("secular") alliance in the near future. This tendency to superimpose discursive categories on the politics of regional forces is somewhat self-defeating and misleading. In the ideological haste to imagine a non-communal political alternative, the historical trajectory and the state-specific context for the rise and continued predominance of the state parties are always ignored.

The absence of an all-India alternative and inability of the Congress to federally incorporate regional aspirations contributed to the rise of the so-called regional parties and they thrived once the local power structures belonging to the Congress began to crumble. It is well-known that the limitations of state parties in tackling the Congress and their all-India aspirations facilitated their alliances with the BJP in the '90s. The BJP was then a junior player in most of the states, making the regional parties secure. Whenever the ambitions of the state party and the BJP clashed, their coalitions came under pressure. The earliest instance of this was the BJP-BSP alliance intended to keep the SP away. This alliance never worked because both partners were impatient to emerge as the main player in the state. Similarly, the JD(S)-BJP alliance in Karnataka was ill-fated because each party perceived itself to be the main challenger to the Congress and wanted to use the other only as a temporary prop. Over time, Odisha, West Bengal, and more recently Bihar and Maharashtra, have exemplified the limitations of the BJP's regional game plan. In these states, once the BJP began to expand and become a major player, the state-level partner developed problems with the BJP and discovered that it was, after all, a communal force.

The lessons to be drawn from this historical context are two-fold. First, the state parties are neither naturally anti-communal nor are they natural allies of the BJP. It is true that the Trinamool Congress or the JD(U) had to take into consideration the wariness of the Muslim voter vis-à-vis the BJP. However, that was not deterrent enough to their overtures to the BJP. It is the state-level context which will decide their stance towards the BJP. Take the case of Tamil Nadu. If the Congress has chosen to continue its alliance with the DMK, it makes sense for the AIADMK to build bridges with the BJP. The case of West Bengal is even more instructive. Here is a ruling party that was for the past two years engaged in an anti-BJP slanging match, has a large contingent in the Lok Sabha, and yet was isolated in the assembly elections. This isolation can easily force the TMC to rethink its strategy regarding the BJP.

The second lesson is that state parties would align with the so-called all-India parties only when the latter do not have much strength to unsettle state-level political equations. As the BJP now keeps expanding in state after state and, under its aggressive national president, trumpets its ambition to rule the country for the next 10 or 20 years, the natural course for most state parties would be to remain cautious of the BJP. Thus, the BJP would

find it hard to win the hearts of many state parties. From the Vajpayee era of the mid-'90s, not only have personalities changed, from Mahajan-Vajpayee to Shah-Modi, the core approach of the BJP has changed. Then, the BJP was struggling to gain power at the Centre and acceptance beyond the western and northern regions. Now, the party has made a dent in the east and is looking forward to gain entry in the south. Its future course can hardly be served if it restricts its all-India ambitions in favour of regional allies.

These two lessons have contradictory strategic relevance. As the BJP gains new regional partners and retains some older ones, its relation with these partners is bound to be of tension, suspicion and uncertainty. However, this is no guarantee that state parties would form an anti-BJP front. The Congress would, of course, look forward to such a front given the success of the mahagatbandhan in Bihar last year. However, for such a front to materialise, two preconditions need to be fulfilled.

One is that the Congress must perform well in the states where it is supposed to take on the BJP — Gujarat, Rajasthan, MP, Chhattisgarh, Uttarakhand and Himachal Pradesh. Only then can it become a serious partner in the anti-BJP front. In other words, the strength that the Congress has to bring to such a front has to come from states where state parties have no stakes. Secondly, the Congress has to be prepared to play a secondary role in states where state-level players are already ensconced. This is exactly what it did in Bihar, but refused to do in West Bengal. It is understandable that this strategic move would create unease within the Congress because it would mean accepting a secondary role in a large number of states, something that can impede the party's revival. It is therefore unlikely that a real anti-BJP front could emerge from the present set of state parties.

The "regionalism" that state parties inevitably bring into focus constitutes another stumbling block for both the Congress and BJP — not necessarily for ideological reasons but because these two parties have to build support across states. For instance, Ajit Jogi has already invoked the "pride of Chhattisgarh". Nitish and Lalu, too, thrived on "Bihari pride" during elections last year. Resort to regional pride is becoming a common feature of the politics of state parties. How the BJP and Congress negotiate that will decide their coalition strategies.

In fact, the criss-cross of national and state-level political scenarios might be better understood if we imagine the game of chess where there are not one but many overlapping chess boards and some pieces are common to many boards and some confined to only one. It is a moot question if the kings and queens of different chessboards can emerge as King or Queen across boards.

Written by Suhas Palshikar

Date: 16-06-16

Miscounting The Urban

Skewed projections of non-rural populations have affected economic planning.

Recognition of senior policymakers in the government that many so-called large villages are really urban areas but are not classified as towns on account of various reasons is a step in the right direction. Demographers from the 1990s onwards have questioned the definition of rural and urban and underlined the fact that reclassification of large villages to towns leads to substantial advances in our understanding of the dynamics of movements in the Indian economy. This phenomenon was not recognised as urbanisation until the 2011 Census.

In the 2006 S.K.Dey Centenary Memorial lecture, we established that there were "large villages" that met the census criteria of towns but were not classified as urban areas by the government and, at that time, even in the census (now called census towns). This led to a pessimistic perception of urbanisation. I argued then that a part of this pessimistic perception arose from settlements which are "urban" by census definitions not being classified as "urban". While the absolute differences on this account could be small, "small" absolute differences can affect the projections seriously. For instance, if a proper classification was made of the "villages" in Gujarat that were not rural according to the census definition but were not classified as towns, the rate of change in urbanisation in the state would be twice that which is currently planned for.

This anomaly was recognised in the 2011 Census. In Gujarat, the 2006 projections have turned out to be accurate for 2011. The pattern is similar in agriculturally advanced states like Punjab, in contrast to industrially advanced Gujarat, and a relatively backward state like Bihar. In all, we are talking about a million or more farmers having moved to census towns. Policymakers have been forced to recognise this phenomenon for 2011, but are still resisting its implications for future planning, which is a terrible mistake.

The 2011 Census shows that this trend was prevalent in the whole country and the increase in the population of census towns was roughly equivalent to the increase in the rate of urbanisation of the country. The census authority was saying that more than 4 crore Indians had moved from villages to urban areas, which were not officially classified as municipalities, notified towns or cantonments and, were not counted as urban. In the 11th plan (2007-2012), this problem was finally recognised. The base numbers were changed, but corrections were not factored in the projections of urban population.

This conundrum continues. What it really means is crores of farmers have moved from villages to towns following the laws of the market because the demand for their products was rising in markets in small towns. This was particularly true for milk and animal husbandry products like eggs, poultry and so on, and fruits and vegetables. But these were not officially taken into account and, therefore, the provision to build infrastructure in market towns — markets, storage facilities, processing of agriculture commodities, roads, communication infrastructure — was not provided to the extent needed.

The next round of population projection is not yet ready. The Technical Group on Population Projections is still working on it. This time the pressure to provide backup to the Five Year Plan (FYP) is not there since there is no FYP. The ministries may rely on earlier statistics and projections of rural and urban population. Now that an important official of the NITI Ayog has recognised this problem, the ministries, hopefully, will be pushed to factor in these changes in their workplan. The Expert Group on Population Projection will, hopefully, submit its report soon and many infrastructure planning decisions which have to take into account population projections will get to work with the

correct set of numbers on rural and urban population and migration from rural to urban areas.

Written by Yoginder K. Alagh

THE HINDU
INDIA'S NATIONAL NEWSPAPER SINCE 1878

Date: 16-06-16

The General drift of Society

The troubled intellectual in India today is being asked to choose between free speech that can lead to intellectual murder or a silence that can end in intellectual suicide

"Write as you speak," a wise old man once told me, "and speak as you think." The advice, intended to guard writing from verbosity and artifice, was sound. The urge to be 'word-perfect' and 'pitch-right' can make writing an endless and self-defeating exercise. Rather like turning and turning a pencil in the sharpener's groove to bring the lead-end to its ultimate piercing point can actually break the tip. Much the best to say it fast, keep it blunt.

Good writing has to make good reading.

All of us have admired some writers, preferred their work over that of others for their writing style as much as for the content of their work. One writer who has, for more than half a century, been admired for his searing honesty is George Orwell. He is never recondite, but he is never trite. He says it as it is and yet says it as it has not been said before.

The polemics of Orwell

Seven decades ago, Orwell wrote a clutch of essays for the post-World War II British journal *Polemic*. The brave effort lived for a mere three years — 1945-1947. But what a journal it was! Described as a "Magazine of Philosophy, Psychology, and Aesthetics", it aimed to be a periodical for the non-specialist intellectual. Founded by the ex-communist and Spanish Civil War fighter Humphrey "Hugh" Slater, its first issue came out as a book and only seven more issues ran. But its leaden type-settings were, each of them, worth their weight in gold. On the surface, *Polemic* was anti-Soviet which in varying degrees seemed like being anti-communism. But it was essentially against totalitarianism, not just of the Stalinist variety but of all types, including that of intolerant majorities. Its contributors included the iconic iconoclast Bertrand Russell ("The fundamental cause of the trouble is that in the modern world the stupid are cocksure while the intelligent are full of doubt"), the celebrated American author Henry Miller ("I need to be alone. I need to ponder my shame and my despair in seclusion"), the philosopher A.J. Ayer ("... when one buys a pair of shoes, one is buying three things, the right shoe, the left shoe and the pair"), the British poet-novelist Stephen Spender ("Great poetry is always written by somebody straining to go beyond what he can do"), the Welsh poet Dylan Thomas ("Do not go gentle into that good night") , the historian Hugh Trevor-Roper ("The function of a genius is not to give new answers, but to pose new questions which time and mediocrity can resolve"), the controversial thinker C.E.M. Joad ("Some turn to vinegar, but the best improve with age") and Orwell.

Of the five essays that Orwell contributed to *Polemic*, the most famous is 'Notes on Nationalism', the most important is 'The Prevention of Literature'. The essay is about what its title says, namely, the enemies of intellectual liberty. But Orwell is never predictable. He includes among the threats to freedom of thought in the England of that time the concentration of the press in a few hands, monopoly of radio, the bureaucracy and, curiously, the unwillingness of the public to buy books. He uses a remarkable phrase — direct and terse — to describe this threat as "... the general drift of society". "In our age," he writes, "the idea of intellectual liberty is under attack from two directions. On the one side are its theoretical enemies, the apologists of totalitarianism, and on the other its immediate, practical enemies, monopoly and bureaucracy. Any writer or journalist who

wants to retain his integrity finds himself thwarted by the general drift of society rather than by active persecution."

Resonance, seven decades on

Orwell's 1946 essay, written with frank fluency, is disturbingly valuable to us today, both as a piece of masterful writing and as a warning. One look at the just-appeared volume, *Words Matter: Writings against Silence*, edited by K. Satchidanandan, and published by Penguin-Viking which includes essays by Nayantara Sahgal, Romila Thapar, Gopal Guru, Githa Hariharan, A.R. Venkatachalapathy, Ananya Vajpeyi and others, with selections from the writings of the slain freethinkers Narendra Dabholkar, Govind Pansare, and Malleshappa Kalburgi, will tell us why it is so. The book is, in fact, a contemporary Indian avatar of *Polemic*.

The current Indian establishment's priorities do not include the independence of writers. They do not place freedom of thought and expression high on its list. But no less worrisome for the defenders of free expression is the "general drift of society" today. The troubled intellectual in India today is being asked to choose between free speech that can lead to intellectual murder or a silence that can end in intellectual suicide. And who is demanding this? Not the state, not directly anyway. It is what Orwell called the 'general drift of society'.

In his essay Orwell says that some 15 years earlier, Conservatives and Catholics were attacking freedom but that at the time of his writing a new political orthodoxy of the Russophile intelligentsia in tandem with the monopolist mindset in the bureaucracy was crippling intellectual liberty. "The journalist," writes Orwell, "is unfree, and is conscious of un-freedom, when he is forced to write lies or suppress what seems to him important news: the imaginative writer is unfree when he has to falsify his subjective feelings…"

This is staggeringly true of us in India today. The thirty per cent of India's electorate that has voted the ruling party into office reflects the desire, often inchoate but not unclear, of the 'general drift' towards blind conformity, hero worship and the narrowest of narrow nationalisms.

Totalitarianism is not always operated by diktat. It is insinuated by suggestion and replication. A political dictatorship is not in operation in India. But a political orthodoxy

has certainly crept into our national life. That political orthodoxy genuflects in supremo worship, sees Hindus as India's master race of the purest Aryan descent and the goal of India's Reich-like dispensation as being a superpower status. Pride is cousin to fear. And fear does not have to be proclaimed by the state. It can be set going as a public flotation.

The self-censoring silence

Artistic expression does not have to be gagged by the state if there are self-appointed vigilantes to bully it into silence. Dissent does not have to be banned if it is countered by orchestrated mass promo rallies, hypnotising oratory. The 'non-intellectual' public can be mesmerised through mega events in which celebrity stars participate; intellectuals can be immobilised through the twin ploys of preferment and ostracism. Supremo establishments do not need to turn Hitlerian any more. All they need to do is to let the Reich chemistry work. Self-regulation and self-censorship will click in. Monopoly and the bureaucracy (which includes, very particularly, the techno-scientific, diplomatic and economic bureaucracy) are ever at hand to 'do the needful' and the three bagsful.

Raghuram Rajan, the Governor of the Reserve Bank of India, is a thinking man, a strong man — a much-needed and scarce combination. The country's central banking institution needs a resilient brain, not a programmed robot to guide the fortunes of the rupee. Dr. Rajan's is such a brain which, in addition, has the humour needed to protect it from robotising. But even as he shrugs criticisms off with a laugh, a great many if not most from the class of 'intellectual India' have led themselves into a self-censoring silence over Big Brotherisms. "Political writing in our time," says Orwell in the *Polemic* essay, "consists almost entirely of prefabricated phrases bolted together like the pieces of a child's Meccano set. It is the unavoidable result of self-censorship. To write in plain vigorous language one has to think fearlessly, and if one thinks fearlessly one cannot be politically orthodox."

Guardians of intellectual liberty must stand four square against the tyranny of the state. But they must not spare the tyranny of a political orthodoxy banking on our inability to write as we think and speak as we think, with the class and style of *Polemic*. Words matter, words count.

***Gopalkrishna Gandhi**, a former Governor of West Bengal, is distinguished professor of history and politics, Ashoka University.*